सीने पर एससी/एसटी लिखना, अंग्रेज़ों की चलाई 'गोदना प्रथा' की अभिव्यक्ति है!

मीडिया विजिल
कॉलम
Published On : Thu 03rd May 2018, 05:21 PM

अभय कुमार

कुछ दिनों पहले मध्य प्रदेश के धार जिले में पुलिस कॉन्स्टेबल भर्ती के लिए पहुंचे नवजवानों के सीने पर एस.सी. (अनुसूचित जाति) और एस.टी. (अनुसूचित जनजाति), ओ.बी.सी. (अन्य पिछड़ा वर्ग) लिखे जाने की एक बेहद शर्मनाक घटना सामने आई. पुलिस महकमा अपनी गलती मानने और दोषी अधिकारियों को सज़ा देने के बजाय, उलटा थोथी दलील दे रहा है कि हर वर्ग के उम्मीदवारों के लिए शारीरिक माप का 'क्राइटेरिया' अलग-अलग होता है, इसलिए मेडिकल जाँच के दौरान ऐसी पहचान करनी पड़ती है ताकि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के साथ मिल न जाए. मामले को तूल पकड़ते देख, गृह मंत्रालय ने भले ही जाँच का आदेश दे दिया हो, मगर इस घटना ने सबको, खासकर दलित, आदिवासी और पिछड़ों को झकझोर कर रख दिया है. आज़ादी के 70 साल बाद भी, इस व्यवस्था में दलित और पिछड़ा वर्ग को बराबरी नहीं मिल पा रही है. आज भी व्यवस्था में बड़े ओहदे पर बैठे बहुत सारे लोग औपनिवेशिक और जातीय पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हो पाये हैं.

लोगों को उनके सामाजिक समूह और वर्ग में बाटने और उनको उसी चश्मे से देखने का एक लम्बा इतिहास है. यह सही है कि औपनिवेशिक दौर से पहले, हमारे देश में लोग जाति, धर्म, समुदाय और अन्य सामाजिक समूहों में बटे हुए थे. उनके बीच में वर्गीय खाई थी और सामाजिक भेदभाव भी पाया जाता था. मगर इससे भी इंकार करना मुश्किल है कि औपनिवेशिक दौर में सामाजिक दूरियां बढ़ीं और लोगों की 'सोशल आइडेंटिटी' की दीवार न सिर्फ पुख्ता हुई बल्कि उँची भी हुई. बहुत हद तक इन सब के लिए औपनिवेशिक व्यवस्था ज़िम्मेदार थी, जिसने गुलाम लोगों को सिर्फ जातियों और धर्मों का समूह माना. औपनिवेशिक ब्रिटिश हुकूमत अपने शोषणकरी तंत्र को सही ठहराने के लिए, इसका खूब प्रचार किया कि गुलामों के स्वार्थ परस्पर-विरोधी थे और ब्रिटिश हुकूमत न सिर्फ एक "निष्पक्ष" सरकार की भूमिका निभा रही थी, बल्कि गुलामों को "सभ्यता" भी सिखा रही थी.

इन तमाम पहलूओं पर कई सारे शोध उपलब्ध हैं. मिसाल के तौर पर, 2004 में प्रकाशित किताब 'लेजिब्ल बॉडीज' में इतिहासकार क्लेयर एंडरसन ने दिखाया है कि ब्रिटिश हुकूमत ने गुलामों के बीच में ही से कई ऐसी जातियों और जनजातियों की 'शबीह' (आइडेंटिटी) 'क्रिमिनल' कह कर ख़राब की. जो लोग संगीन जुर्म में मुजरिम बना दिए जाते थे, उनके माथे पर ब्रिटिश हुकूमत गोदना गोदवाया करती थी ताकि उनकी पहचान करने में व्यवस्था और समाज को कोई दिक्कत न हो. एंडरसन के मुताबिक, उपनिवेशवाद से पूर्व भारत में मुजरिमों को गोदना गोदवाने की परम्परा के सबूत पुख्ते नहीं मिलते हैं. वहीँ यूरोप में इसका प्रचलन पाया जाता था. भारत में इस तरह का अमानवीय प्रचलन ब्रिटिश सम्राज्य ने यूरोप से आयात किया. गोदना देवनागरी, बंगला, फारसी और अन्य देशी ज़ुबानों में लिखा जाता था. कई बार भाषाई खाई की वजह से गोदना पढ़ने में अधिकारीयों को दिक्कत भी होती थी.

भारत में गोदना प्रथा की शुरुआत 18वीं सदी के आखिर में हुई. इसका प्रचलन बंगाल और मद्रास प्रेसीडेंसीज़ में था. दूसरी तरफ, बॉम्बे प्रेसीडेंसी ने इसे कभी नहीं अपनाया. संगीन जुर्म में सज़ा पाने वाले गुलामों के माथे पर गोदना गोद दिया जाता था, जिस पर उनका जुर्म, उनकी सजा और उनसे संबंधित तमाम जानकारियां लिख दी जाती थी. इन सब के पीछे मकसद यह था कि व्यवस्था और समाज को इन सजायाफ्ता मुजरिमों से 'आगाह' किया जाये ताकि व्यवस्था और समाज इस गोदने को देख कर तथाकथित मुजरिमों से दूरी बना ले.

जब इस अमानवीय प्रथा का विरोध बढ़ गया तो साल 1849 में इसे पूरे ब्रिटिश इंडिया से ख़त्म कर दिया गया. गोदना की जगह अब फिंगर प्रिंट्स, खास पोशाक और जंजीर ने ले ली. इसके अलावा, मुजरिमों के बाल मुंडवाए जाते थे. इसी दौरान कुछ खास जातियों और जनजाति को 'क्रिमिनल ट्राइब' 'टैग' लगाया गया. औपनिवेशिक मानव वैज्ञानिक की रिपोर्ट ने वंचित और पिछड़ों की शबीह ख़राब करने में बड़ी नकारात्मक भूमिका निभाई.

धार जिले की उपर्युक्त घटना में अगर कुछ फर्क है तो वह सिर्फ इतना है कि पुलिस में भर्ती होने आये नवजवानों के सीने पर जो निशान मढ़े गए वह स्थायी नहीं थे, जबकि गोदना के निशान स्थायी होते हैं और उसे बगैर चमडा काटे नहीं मिटाया जा सकता है. एक तरह से देखा जाए तो धार की घटना ज्यादा अमानवीय मालूम होती है. औपनिवेशिक दौर में तथाकथित संगीन मुजरिमों पर शिनाखती गोदना के निशान लगाये जाते थे, मगर यहां तो पुलिस भर्ती के लिए आये मासूम पिछड़े और वंचित तबके के नौजवानों को भी नहीं बख्शा गया.

उनके शारीर को चिन्हित करने के पीछे एक बड़ी जातिवादी सोच काम कर रही थी. जिस तरह से उपनिवेशिक ब्रिटिश हुकूमत मुजरिम गुलामों को चिन्हित कर उनके खिलाफ भेदभाव को बढ़ावा देती थी, उसी तरह इस व्यवस्था में बैठे जातिवादी लोग पिछड़े और वंचित समाज की निशानदेही कर उनके खिलाफ हो रहे भेदभाव को और बढ़ावा देते हैं.

सामाजिक पहचान और भेदभाव का गहरा रिश्ता है. प्रसिद्ध समाजशास्त्री सुखदेव थोरात और पॉल अटवेल ने 'द लिगेसी ऑफ़ सोशल एक्सक्लूशन' (ईपीडब्लू, 2007) ने अपने शोधपत्र में यह बताने की कोशिश की है कि सामान योग्यता रखने वाले दलित और मुस्लिम उम्मीदवार जब किसी नौकरी के लिए आवेदन करते हैं तो उन्हें कम मौकों पर नौकरी के बुलाया जाता है, वहीं उतनी ही योग्यता रखने वाले ग़ैर-दलित हिन्दूओं को अधिक मौके मिलते हैं. यह सब इस लिए होता है क्योंकि जातिगत मानसिकता यह कुबूल करने के लिए तैयार नहीं हैं कि मनुष्य बराबर है. जातिवाद से ग्रसित लोगों को लगता है कि पिछड़े और आरक्षित वर्ग से आने वाले लोगों के पास ग़ैर-आरक्षित वर्ग के उम्मीदवारों से कम योग्यता होती है. इसलिए व्यवस्था में बैठे जातिवादी लोग हमेशा इस कोशिश में रहते हैं कि उम्मीदवारों की सोशल आइडेंटिटी को ज़ाहिर किया जाये ताकि उनके खिलाफ भेदभाव आसानी से बरता जा सके. इसलिए साक्षात्कारों में वंचित वर्ग को लिखित परीक्षा के मुकाबले अमूमन कम अंक दिए जाते हैं. धार की घटना को मैं इसी पूर्वाग्रह की उपज मानता हूँ. कुछ इसी तरह का भेदभाव अन्य तरीकों से भी किया जा रहा है. मिसाल के तौर पर मार्कशीट पर वंचित समुदाय के लोगों की सोशल आइडेंटिटी लिखना गोदना प्रथा की ही अभिव्यक्ति है.

लेखक जेएनयू में शोध छात्र हैं।

MADHYA PRADESH GOVERNMENT | SCHEDULED TRIBE | SHEDULED CASTE | SHIVRAJ CHAUHAN | SOCIAL IDENTITY

←Previous: पूरे विश्व में मनाया गया वर्ल्ड प्रेस फ्रीडम डे

Next: जलेस ने एएमयू में लाठीचार्ज की निंदा और न्यायिक जाँच की माँग की →

Related →